Vol 4, Issue 10, October 2024 www.ijesti.com E-ISSN: 2582-9734
International Journal of Engineering, Science, Technology and Innovation (IJESTI)

झारखंड में आदिवासी संघर्ष औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक वन अधिकार आंदोलन

संध्या लाकड़ा
रिसर्च स्कॉलर, वाईबीएन यूनिवर्सिटी, रांची।

डॉ सुस्मिता महापात्रा
एसोसिएट प्रोफेसर एवं एचओडी,
इतिहास विभाग, वाईबीएन विश्वविद्यालय, रांची

सारांश:

झारखंड में आदिवासी संघर्षों की परंपरा का इतिहास बहुत पुराना और जटिल है, जो मुख्य रूप से वन अधिकारों से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समुदायों का जीवन जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर था और उनकी संस्कृति, पहचान और अस्तित्व इन संसाधनों से जुड़े थे। ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान, आदिवासी समुदायों को वनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, जिससे कई संघर्षों की शुरुआत हुई, जैसे कि उलगुलान आंदोलन। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी आदिवासी समुदायों को अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा में समस्याओं का सामना करना पड़ा। 2006 में वन अधिकार अधिनियम लागू किया गया, जिसने आदिवासियों को उनके पारंपरिक अधिकारों की आधिकारिक मान्यता दी, लेकिन यह एक लंबी कानूनी प्रक्रिया थी। आज भी आदिवासी समुदायों का संघर्ष जारी है, क्योंकि उनके लिए जंगल सिर्फ एक संसाधन नहीं, बल्कि अस्तित्व और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है।

कुंजी शब्द: आदिवासी संघर्ष, वन अधिकार, उलगुलान आंदोलन

निष्कर्ष

झारखंड में आदिवासी संघर्षों का इतिहास औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में एक लंबा और जटिल सफर रहा है, जो जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों के अधिकार से जुड़ा हुआ है। आदिवासी समुदायों ने अपनी भूमि और वनों पर पारंपरिक अधिकारों के लिए सशक्त संघर्ष किए हैं। ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा वनों पर नियंत्रण करने से आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों पर गहरा असर पड़ा, और उनके संघर्षों का मुख्य उद्देश्य जंगलों के साथ अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पहचान की रक्षा करना था। स्वतंत्रता के बाद भी, आदिवासी समुदायों को वन नीतियों की समस्याओं का सामना करना पड़ा, और यह संघर्ष जारी है। वन अधिकार अधिनियम 2006 ने आदिवासियों को कुछ अधिकार दिए, लेकिन यह कानूनी प्रक्रिया लंबी और जटिल थी। आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल संसाधन नहीं, बल्कि उनकी संस्कृति और अस्तित्व का अहम हिस्सा हैं, और यह संघर्ष वर्तमान में भी जीवित है।

परिचय

झारखंड में आदिवासी संघर्षों की एक लंबी और जटिल परंपरा रही है, जो औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में वन अधिकारों से जुड़ी हुई है। आदिवासी समुदायों का जीवन सदियों से जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहा है, और उनका पारंपरिक समाज इन संसाधनों के संरक्षण और उपयोग के लिए विकसित हुआ था। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश साम्राज्य ने झारखंड के जंगलों को वाणिज्यिक दृष्टिकोण से नियंत्रित किया, जिससे आदिवासी समुदायों के पारंपरिक वन अधिकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासन ने वन विभाग की स्थापना की

और वनों के संरक्षण के नाम पर आदिवासी समुदायों को उनके जल, जंगल और जमीन से बेदखल करना शुरू कर दिया। इस दौरान आदिवासी समुदायों ने कई संघर्षों का सामना किया, जैसे कि **उलगुलान** (1855-56) आंदोलन, जिसमें सिदो और कान्हू जैसे आदिवासी नेताओं ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह किया। इन संघर्षों का मुख्य कारण वनों पर आदिवासियों का पारंपरिक अधिकार छीनना और उन्हें अपने ही भूमि पर घेरना था। आदिवासी समाज के लिए जंगल सिर्फ आजीविका का स्रोत नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्व भी रखता था। इस संघर्ष में आदिवासी नेताओं ने न केवल अपनी भूमि और वन अधिकारों के लिए बल्कि अपनी पहचान और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए भी आवाज उठाई। स्वतंत्रता के बाद भी, झारखंड के आदिवासी समुदायों को औपनिवेशिक व्यवस्था से विरासत में मिली समस्याओं का सामना करना पड़ा। हालांकि, भारतीय स्वतंत्रता के बाद आदिवासी अधिकारों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ, लेकिन राज्य और केंद्र सरकारों की वन नीतियों ने आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों की रक्षा में अक्सर बाधाएं उत्पन्न की। 1980 और 1990 के दशकों में सरकार ने कुछ वन नीतियों में बदलाव की दिशा में कदम उठाए, लेकिन आदिवासियों का संघर्ष जारी रहा। **वन अधिकार अधिनियम, 2006** के अंतर्गत आदिवासियों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों की आधिकारिक मान्यता दी गई, लेकिन यह भी एक लंबी कानूनी प्रक्रिया का हिस्सा था, और इसका प्रभाव क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर भिन्न था। इस प्रकार, औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में झारखंड के आदिवासी समुदायों का संघर्ष उनके जीवन के मूलभूत अधिकारों, विशेषकर जंगल और भूमि के अधिकारों की रक्षा के लिए था, और यह संघर्ष आज भी जारी है, क्योंकि आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल एक संसाधन नहीं, बल्कि उनके अस्तित्व और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं।

समीक्षा

मैक्सवेल, डेविड (2000): यह अध्ययन जिम्बाब्वे असेंबली ऑफ गॉड, अफ्रीका (ZAOGA) के माध्यम से जिम्बाब्वे में पेंटेकोस्टल आंदोलन और राजनीति के बीच संबंधों की जांच करता है। शोध ने औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में ZAOGA के राज्य और राजनीति के साथ बदलते संबंधों का विश्लेषण किया। शुरू में यह आंदोलन राजनीति से दूर रहा और संसाधनों को जुटाने के लिए श्वेत रोडेशियन और अमेरिकी संपर्कों का उपयोग किया, लेकिन स्वतंत्रता के बाद सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और विकास को अपनाया। हालांकि, अमेरिकी धार्मिक अधिकार और विद्रोही नेता डेबोनिंग सिथोले से जुड़े विवादों के कारण ZANU/PF से इसके संबंध तनावपूर्ण हो गए। 1990 के दशक में ZAOGA और ZANU/PF ने पारस्परिक वैधता हासिल की, लेकिन अभिजात वर्ग के इस गठजोड़ ने स्थानीय विधानसभाओं की लोकतांत्रिक संस्कृति के साथ टकराव पैदा किया। अध्ययन से यह भी पता चला कि टाउनशिप-आधारित विधानसभाओं में वैकल्पिक पेंटेकोस्टल प्रथाएं प्रगतिशील नागरिक समाज और राजनीति के साथ सहजीवन में हैं। शोध ने निष्कर्ष निकाला कि पेंटेकोस्टलवाद जिम्बाब्वे की राजनीति को नवीनीकृत कर सकता है, लेकिन साथ ही इसे व्यापक समाज की बाहरी ताकतों द्वारा नवीनीकरण की आवश्यकता है।

कार्लसन, बेंग्ट जी. (2001) ने भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में आदिवासी समुदायों के बीच "जातीयता" या समुदाय आधारित राजनीति के जटिल सवालों पर शोध किया। अध्ययन में उन्होंने विशेष रूप से मूल निवासियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की जांच की, जिसे अधिकांश स्वदेशी संगठनों द्वारा महत्वपूर्ण माना गया है और जो संयुक्त राष्ट्र के स्वदेशी अधिकारों की घोषणा का केंद्रीय विषय है। इस अधिकार को स्वायत्तता के विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है, जो पूर्वोत्तर भारत के सभी संगठित समुदायों के एजेंडे में प्रमुख है। शोध में समकालीन बोडोलैंड आंदोलन, नागा संप्रभुता संघर्ष और राभा समुदाय की लामबंदी जैसे कई मामलों का विश्लेषण किया गया। उन्होंने बहु-जातीय संदर्भों में इन मांगों को व्यवहारिक राजनीतिक समाधानों में बदलने की कठिनाइयों को रेखांकित किया और भारत में स्वदेशी राजनीति की प्रमुख चुनौतियों को उजागर किया।

कॉरब्रिज, स्टुअर्ट, और संजय कुमार (2002) ने झारखंड के रांची जिले में कटहल के पेड़ों की कटाई से जुड़ी प्रक्रियाओं और उनकी सामाजिक-राजनीतिक जटिलताओं पर एक केस स्टडी प्रस्तुत की। इस शोध में बताया गया कि कैसे एक आदिवासी ग्रामीण को अपनी निजी भूमि पर कटहल के 10 पेड़ों को काटने और उन्हें बेचने के लिए सरकारी अनुमति लेने में भ्रष्टाचार और देरी का सामना करना पड़ा। यह अध्ययन राज्य और समुदाय के बीच हितों की मिलीभगत को उजागर करता है। शोध में यह भी दिखाया गया कि 1990 के दशक में लकड़ी व्यापार के नियमन के कारण व्यवस्था में बदलाव आया और कटहल की कीमतें बढ़ीं। शोध के दूसरे भाग में, लेखक इन घटनाओं को पर्यावरण इतिहास, सामुदायिक संपत्ति व्यवस्था, वन विभाग की संगठनात्मक संस्कृति, पर्यावरणवाद की राजनीति और सशक्तिकरण के अर्थों के संदर्भ में पुनः विश्लेषित करते हैं।

चड्ढा, आशीष (2003) ने अपने अध्ययन में भारत में सरकारी मंजूरी के साथ खुल रहे टायर, ऑटोमोबाइल और पेट्रोकेमिकल संयंत्रों के प्रभावों का विश्लेषण किया। उन्होंने बताया कि इन परियोजनाओं ने उड़ीसा, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में झींगा पालन के लिए धान के खेतों में पानी भरने से परिदृश्य को अपरिवर्तनीय रूप से बदल दिया। भारत के तटीय क्षेत्रों में पारंपरिक मछुआरों को मशीनी मछली पकड़ने वाली नावों द्वारा उनके मछली पकड़ने के जल स्रोतों का दोहन किए जाने से अपनी आजीविका के लिए नए व्यवसाय तलाशने को मजबूर होना पड़ रहा है। मशीनी नावों की असंवहनीय मछली पकड़ने की प्रथाओं ने न केवल उनकी नियमित पकड़ को समाप्त किया बल्कि पारंपरिक मछुआरों को पूरी तरह बेदखल करने का खतरा भी उत्पन्न किया। उन्होंने यह भी पाया कि इन विकास परियोजनाओं से विस्थापित लोगों को उचित पुनर्वास या विकास के लाभ नहीं मिले। उदाहरण स्वरूप, मध्य प्रदेश के जबलपुर में बरघी बांध से विस्थापित किसान आज झुग्गियों में रहकर रिक्शा चलाने को मजबूर हैं, जबकि पहले वे आत्मनिर्भर किसान थे।

सिन्हा-केरखॉफ, कथिंका (2004) के इस लेख में 1947 में ब्रिटिश भारत के विभाजन की दो प्रकार की स्मृतियों पर चर्चा की गई है। पहली स्मृति "विभाजन स्मृति" के रूप में पहचानी गई है, जो धार्मिक आधार पर भारत और पाकिस्तान के दो राष्ट्रों के निर्माण को मजबूत करती है, और दूसरी स्मृति झारखंड के मुसलमानों की है, जो विभाजन की घटनाओं को क्षेत्रीय पहचान के आधार पर अनुभव करते हैं। 2000-2001 में झारखंड में किए गए साक्षात्कारों के आधार पर, लेखक ने दिखाया कि इन मुसलमानों की स्मृतियां धर्म के बजाय क्षेत्रीय विविधता को उजागर करती हैं, जिससे आधिकारिक विभाजन इतिहास को चुनौती मिलती है। लेख इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि इन स्मृतियों को विभाजन के इतिहास में शामिल करना आवश्यक है, क्योंकि ये विभाजन स्मृति की एकतरफा व्याख्या के खतरों को चुनौती देती हैं और आधिकारिक इतिहास को समृद्ध व रूपांतरित कर सकती हैं।

मुंडू, बी.जे. (2006) के शोध प्रबंध ने झारखंड, भारत के आदिवासियों पर ध्यान केंद्रित करते हुए उनकी पारंपरिक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और सामूहिक अधिकारों के मुद्दों का अध्ययन किया। यह आदिवासियों की ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रशासनिक संरचनाओं को उनकी पहचान और अधिकारों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करता है। इस शोध ने आदिवासियों की प्रथागत परंपराओं की प्रासंगिकता और उनके आधुनिक राष्ट्र-राज्य के साथ संघर्ष को विश्लेषित किया। अध्ययन में अनुभवजन्य डेटा और केस स्टडी पद्धति का उपयोग करते हुए, आदिवासियों की पारंपरिक प्रथाओं के क्षरण, राज्य की भूमिका और सामुदायिक पहचान के मुद्दों को गहराई से समझा गया। इसमें आदिवासियों के राजनीतिक जुड़ाव, कानूनी प्रणाली के प्रभाव, और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डाला गया। अंततः, यह शोध आदिवासियों की परंपराओं और पहचान को संरक्षित करने के लिए आगे अनुसंधान के लिए क्षेत्रों की सिफारिश करते हुए निष्कर्ष प्रदान करता है।

सरवनन और वेलायुथम (2009) ने स्वतंत्रता के बाद की भारतीय राजनीति और उसकी नीतियों द्वारा आदिवासियों और पर्यावरण पर पड़े प्रभावों का अध्ययन किया। उन्होंने पचास वर्षों की भारतीय योजना के बावजूद आदिवासी समुदायों की लगातार बिगड़ती स्थिति और उनके विकास में आई रुकावट को रेखांकित किया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, लेख ने आदिवासी विकास योजना और आर्थिक नीतियों के प्रति राजनीतिक अंतर्धाराओं का विश्लेषण किया। अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वनवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम, 2006 के आदिवासी विकास और पर्यावरणीय प्रभावों का विस्तार से अध्ययन करते हुए, उन्होंने तर्क दिया कि यह कानून न तो आदिवासियों की आर्थिक उन्नति में सहायक होगा और न ही पर्यावरणीय संरक्षण को बढ़ावा देगा। इसके बजाय, यह गैर-आदिवासी हस्तक्षेप को वैधता प्रदान कर सकता है, जिससे आदिवासी समुदायों और पर्यावरण के लिए गंभीर नकारात्मक परिणाम हो सकते हैं।

अग्रवाल, आशीष (2011) ने अपने अध्ययन में यह बताया कि REDD+ के तेजी से विकास के बावजूद, इसके प्रभावों के बारे में बहुत कम अनुभवजन्य साक्ष्य उपलब्ध हैं, खासकर यह कि यह मौजूदा शासन तंत्रों के साथ कैसे अंतःक्रिया करता है और लोगों के अधिकारों को कैसे प्रभावित करता है। भारत में वन अधिकार अधिनियम, 2006 (FRA) के कार्यान्वयन पर विचार करते हुए, उन्होंने इस अंतःक्रिया के बारे में दिलचस्प अंतर्दृष्टि प्रदान की। FRA के तहत, स्वतंत्र भारत में पहली बार वन संसाधनों पर लोगों के अधिकारों को व्यापक रूप से मान्यता दी जा रही है, हालांकि कार्यान्वयन में कई चुनौतियां अभी भी मौजूद हैं। इसने राज्य और लोगों के बीच वन संसाधनों के उपयोग और प्रबंधन को लेकर नए संबंध स्थापित किए हैं। 30 अप्रैल 2011 तक, भारत में लगभग 1.169 मिलियन दावों को मान्यता दी गई, जो देश के 3% वन क्षेत्र को कवर करते हैं। अध्ययन में यह भी उल्लेख किया गया कि भारत REDD+ को वार्ता के एक साधन के रूप में देखता है, जबकि नागरिक समाज समूह इसके विरोध में हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि REDD+ सरकार को FRA के कार्यान्वयन को विफल करने का अवसर दे सकता है। इस पर जारी संवाद और पुनर्वार्ता यह दर्शाते हैं कि REDD+ के प्रभावों को लेकर राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता उभर रही है।

पामुंगकास, काह्यो (2015) के शोधपत्र में उत्तर-औपनिवेशिक ढांचे का उपयोग करते हुए दक्षिण-पूर्व एशिया के अध्ययन में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तावित किया गया है। इस अध्ययन में ज्ञान के समाजशास्त्र पर आधारित एक ढांचा विकसित किया गया है, जो विज्ञान, विचारधारा और प्रवचन के बीच के द्वंद्वात्मक संबंधों का विश्लेषण करता है। उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन सार्वभौमिकता की अवधारणा की आलोचना करते हुए यह मानता है कि वैज्ञानिक कथन किसी समाज का अकेला और निर्विवाद सत्य नहीं हो सकता, बल्कि यह उन लेखकों द्वारा निर्मित किया जाता है जो उस कथन का निर्माण और दावा करते हैं। इस शोध में औपनिवेशिक प्रवचन, सबाल्टर्न, नकल और संकरता जैसी अवधारणाओं का उपयोग करके दक्षिण-पूर्व एशियाई संस्कृति की अधिक व्यापक समझ विकसित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही, यह अध्ययन यूरोप और अमेरिका के सामाजिक सिद्धांतों के आधिपत्य का चुनौती देने के लिए उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों के विकास का भी समर्थन करता है, जो सामाजिक विज्ञानों के भीतर छिपे हुए हितों को उजागर करता है।

रॉय, अनिरबन (2017) ने भारतीय वन प्रबंधन के ऐतिहासिक परिवर्तनों की चर्चा की है। उन्होंने औपनिवेशिक काल में वनवासियों के पारंपरिक अधिकारों के उल्लंघन और वन संसाधनों पर उपनिवेशी हितों की प्राथमिकता को उजागर किया। इसके साथ ही, 2006 के वन अधिकार अधिनियम के तहत वनवासियों को सशक्त बनाने और उनके द्वारा किए गए पारंपरिक योगदान को मान्यता देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण बदलाव का उल्लेख किया। यह आलेख औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में लागू वन नीतियों की समीक्षा करता है और वन अधिकार अधिनियम के कुछ प्रमुख प्रावधानों के SWOT विश्लेषण को प्रस्तुत करता है, जो वनवासियों को सामाजिक और कानूनी सशक्तिकरण की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाते हैं।

घोष, मनोरंजन और सोमनाथ घोषाल (2019) ने भारत के पश्चिम बंगाल राज्य में औपनिवेशिक वानिकी पर अभिलेखीय डेटा और सूचनाओं की पुनः जांच की। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य 1757 से 1947 तक उप-हिमालयी पश्चिम बंगाल में वृक्षारोपण गतिविधियों (जैसे साल, चाय, और सिनकोना) और टोंग्या प्रक्रिया के माध्यम से औपनिवेशिक वन परिदृश्य में हुए परिवर्तनों को समझना था। शोध में यह पाया गया कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में एक समान वन प्रबंधन मॉडल लागू किया, जिससे पारंपरिक जंगलों के स्थान पर उच्च मूल्य वाले वृक्षों जैसे सागौन और महोगनी के रोपण को प्राथमिकता दी गई। 1886 में, पहली बार बंगाल प्रेसीडेंसी में लगभग 15,5,399.29 वर्ग किमी क्षेत्र को आरक्षित वन के रूप में चिन्हित किया गया, जो 'वैज्ञानिक' वन प्रबंधन की शुरुआत थी। टोंग्या प्रणाली के अंतर्गत, बंगाल के हिमालयी क्षेत्र में 168 वन गांवों की स्थापना हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, वन संसाधनों के अधिकारों की मांग करने वाले नागरिक समाज आंदोलनों, जैसे जंगल महल आंदोलन, ने पश्चिम बंगाल में विशेष रूप से उप-हिमालयी क्षेत्रों में संघर्ष पैदा किया। इसके परिणामस्वरूप, वन विभाग द्वारा वन संसाधनों के अत्यधिक शोषण और व्यापारिक एकाधिकार ने इस क्षेत्र के लोगों के साथ ऐतिहासिक अन्याय किया।

"सेनगुप्ता, सोहिनी, और मनीष के. झा (2020) के अध्ययन में सामाजिक नीति के माध्यम से गरीबी और असमानता को कम करने के प्रयासों पर चर्चा की गई है। इस अध्ययन में यूरोपीय देशों द्वारा सामाजिक नीति को समानता और पुनर्वितरण के उपकरण के रूप में अपनाने और भारतीय संदर्भ में इसके प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। विशेष रूप से, स्वतंत्रता के बाद भारत ने गरीबी और अकाल के प्रभावों को कम करने के लिए निवारक उपायों पर ध्यान केंद्रित किया। हालांकि, आर्थिक विकास और गरीबी में कमी के बावजूद, लक्षित गरीबी निवारण कार्यक्रमों पर निर्भरता बनी रही। लेख में अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन निवासी (एफआरए 2006) अधिनियम के माध्यम से नागरिक समाज द्वारा वकालत किए गए कानूनी ढांचे के अंतर्गत सामाजिक न्याय और कल्याण प्रावधानों के सफलताओं और असफलताओं का विश्लेषण किया गया है। निष्कर्ष में यह पाया गया कि एफआरए में सामाजिक न्याय की समझौतापूर्ण व्याख्या ने राज्य और स्थानीय समुदाय के हितों के बीच खाई को और बढ़ा दिया है।"

बारा, जोसेफ (2020) ने अपने अध्याय में छोटा नागपुर के आदिवासी क्षेत्र में ब्रिटिश औपनिवेशिक शिक्षा के विकास की धीमी और असमान प्रक्रिया की जांच की। उन्होंने यह दिखाया कि इस शिक्षा प्रणाली की शुरुआत 1839 में हुई थी, लेकिन इसे उपनिवेशी सरकार का समर्थन मिलते हुए भी इसे सही तरीके से लागू नहीं किया गया। इस प्रणाली को उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी की शुरुआत में 'बर्बर' आदिवासियों को 'सभ्य' बनाने के औपनिवेशिक एजेंडे से प्रोत्साहन मिला था, जिसके लिए मिशनरी सेवाओं का सहारा लिया गया। हालांकि मिशनरी आदिवासियों के प्रति अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के बावजूद, मिशन क्षेत्रों की समस्याओं और पूर्वाग्रही दृष्टिकोणों के कारण उनका प्रयास सफल नहीं हो सका। नतीजतन, आदिवासियों को अपनी शर्तों पर एक दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली मिली, और वे अन्य क्षेत्रों की तुलना में इस प्रणाली को विकसित करने में असमर्थ रहे। इस अध्याय ने इन सभी समस्याओं का विश्लेषण किया और इस क्षेत्र में औपनिवेशिक शिक्षा की वास्तविक स्थिति को उजागर किया।

दास, बापन कुमार और दिनेश नारायण वर्मा (2021) ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र में ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के बाद पहाड़िया, संथाल और अन्य स्थानीय समुदायों के विरोध का विश्लेषण किया। उनका शोध दर्शाता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन समुदायों ने विदेशी शासन का विरोध करना शुरू किया और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान उनका संघर्ष जारी रहा। विशेष रूप से संताल विद्रोह (1855-1856) के दौरान संथालों ने सिदो, कान्हू और अन्य नेताओं के नेतृत्व में विदेशी शासन का विरोध किया। शोध में यह भी उल्लेख किया गया है कि, मुगलों के शासनकाल के दौरान, पहाड़िया समुदाय ने अपने उग्र नायकों के नेतृत्व में हिंदू, मुस्लिम और मुग़ल शासकों

का विरोध किया था और अपने अधिकारों की रक्षा की थी। इसके बावजूद, उन्होंने अपनी ज़मीनों का अधिकांश हिस्सा खो दिया था, लेकिन कभी भी विदेशी शासकों के सामने आत्मसमर्पण नहीं किया। इस शोध में यह स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं सदी आदिवासी विरोध और संघर्ष के संदर्भ में संताल परगना के आदिवासी इतिहास में एक निर्णायक दशक था।

कुमार, राकेश (2022) द्वारा किए गए अध्ययन का उद्देश्य झारखंड के जनजातीय समाज और संस्कृति में आए बदलावों का ऐतिहासिक और मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करना था। शोध में द्वितीयक स्रोतों और गुणात्मक विधियों का उपयोग किया गया, जिसमें आदिवासी समाज की पारंपरिक भौतिक संस्कृति, जो प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व पर आधारित थी, का अध्ययन किया गया। शोध में यह दर्शाया गया कि 16वीं से 20वीं शताब्दी के बीच बाहरी लोगों और घुसपैठियों द्वारा आदिवासी समाज में घुसपैठ की गई, जिन्होंने नए नियम और कानून थोपे, और संस्कृतिकरण की प्रक्रिया शुरू की। इस दौरान आदिवासी लोगों के पारंपरिक आर्थिक संसाधनों का शोषण किया गया, जिससे उनके समाज और संस्कृति में महत्वपूर्ण बदलाव आए। यह अध्ययन वर्तमान में भी जारी परिवर्तन प्रक्रियाओं की ओर इशारा करता है।

आदिवासी संघर्ष

झारखंड में आदिवासी संघर्षों की परंपरा बहुत पुरानी और जटिल रही है, जो विशेष रूप से जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़े रहे हैं। आदिवासी समुदायों का जीवन सदियों से वनों पर निर्भर रहा है, और उनका पारंपरिक समाज इन संसाधनों के संरक्षण और उपयोग के लिए विशेष रूप से विकसित हुआ था। इन संघर्षों का मुख्य उद्देश्य जंगलों पर अपने पारंपरिक अधिकारों की रक्षा करना था, जिससे उनका सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन प्रभावित न हो।

औपनिवेशिक काल

ब्रिटिश साम्राज्य के दौरान, झारखंड के जंगलों का वाणिज्यिक उपयोग बढ़ा और आदिवासियों के पारंपरिक वन अधिकारों को कम किया गया। ब्रिटिश शासन ने वनों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए वन विभाग की स्थापना की, जिसका उद्देश्य वनों से लकड़ी और अन्य संसाधनों का व्यापार करना था। इसके परिणामस्वरूप, आदिवासी समुदायों को उनके जल, जंगल और जमीन से बेदखल कर दिया गया। इस दौरान कई संघर्षों और विद्रोहों का सामना करना पड़ा, जैसे कि **उलगुलान** (1855-56) आंदोलन, जिसमें आदिवासी नेताओं जैसे सिदो और कान्हू ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ अपनी आवाज उठाई। इन संघर्षों का मुख्य कारण आदिवासी समाज के लिए उनके पारंपरिक अधिकारों की रक्षा था।

संस्कृति और पहचान

झारखंड के आदिवासी समुदायों के लिए जंगल केवल आजीविका का स्रोत नहीं था, बल्कि उनका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्व भी था। आदिवासियों का जीवन इन जंगलों के साथ गहरे रूप से जुड़ा हुआ था, और इनका मानना था कि जंगल उनके अस्तित्व का अभिन्न हिस्सा हैं। औपनिवेशिक शासन के तहत वनों पर नियंत्रण का आदिवासी संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा, और आदिवासी नेताओं ने न केवल अपनी भूमि और वन अधिकारों के लिए बल्कि अपनी पहचान और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए भी संघर्ष किया। इस संघर्ष में आदिवासी समुदायों ने अपनी पारंपरिक परंपराओं और रीति-रिवाजों को बचाए रखने के लिए आंदोलन किए।

उत्तर-औपनिवेशिक संघर्ष

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी, झारखंड के आदिवासी समुदायों को औपनिवेशिक काल से विरासत में मिली समस्याओं का सामना करना पड़ा। भारत की स्वतंत्रता के बाद भी, आदिवासी अधिकारों की स्थिति में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ, और राज्य और केंद्र सरकारों की वन नीतियों ने आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों की रक्षा में कई बार बाधाएं उत्पन्न कीं। इस समय भी आदिवासी समुदायों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष जारी रखा। 1980 और 1990 के दशकों में सरकार ने वन नीतियों में सुधार की दिशा में कदम उठाए, लेकिन आदिवासी समुदायों के संघर्ष में कमी नहीं आई।

वन अधिकार अधिनियम, 2006

1980 और 1990 के दशकों में वन अधिकारों के संदर्भ में कुछ सुधारात्मक कदम उठाए गए, और **वन अधिकार अधिनियम, 2006** को लागू किया गया। इस कानून के अंतर्गत आदिवासियों को उनके पारंपरिक वन अधिकारों की आधिकारिक मान्यता दी गई। हालांकि, यह प्रक्रिया लंबी और जटिल थी, और इसका प्रभाव क्षेत्रीय और स्थानीय स्तर पर भिन्न था। फिर भी, इस कानून ने आदिवासी समुदायों को अपने जल, जंगल और जमीन पर अधिकार स्थापित करने में मदद की। यह संघर्ष आज भी जारी है, क्योंकि आदिवासी समुदायों के लिए जंगल सिर्फ एक संसाधन नहीं, बल्कि उनके अस्तित्व और संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है।

संदर्भ

1. मैक्सवेल, डेविड. "'डॉन से पहले कॉकरेल को पकड़ो': पोस्ट-कोलोनियल जिम्बाब्वे में पेंटेकोस्टलिज्म और राजनीति।" *अफ्रीका*, खंड 70, संख्या 2, 2000, पृष्ठ 249-277.
2. कार्लसन, बेंग्ट जी. "स्वदेशी राजनीति: सामुदायिक गठन और पूर्वोत्तर भारत में स्वदेशी लोगों का आत्मनिर्णय के लिए संघर्ष।" संस्कृति *और शक्ति में वैश्विक अध्ययन* 8.1 (2001): 7-45.
3. कॉरब्रिज, स्टुअर्ट, और संजय कुमार। "समुदाय, भ्रष्टाचार, परिदृश्य: वृक्ष व्यापार की कहानियाँ।" *राजनीतिक भूगोल* 21.6 (2002): 765-788।
4. चड्ढा, आशीष। "विस्थापन की शारीरिक रचना: सरदार सरोवर परियोजना के कारण नर्मदा घाटी में आदिवासियों के अपने पारंपरिक परिदृश्य से विस्थापन पर एक अध्ययन।" *परिदृश्य का पुरातत्व और नृविज्ञान*। रूटलेज, 2003. 175-187।
5. सिन्हा-केरखॉफ, कथिंका। "अंतर की आवाज़ें: विभाजन की स्मृति और झारखंड, भारत में मुसलमानों की स्मृतियाँ।" *क्रिटिकल एशियन स्टडीज़* 36.1 (2004): 113-142।
6. मुंडू , बी.जे. (2006). *स्वदेशी परंपराओं के भविष्य पर: झारखंड, भारत के आदिवासियों का मामला* (मास्टर थीसिस, यूनिवर्सिटी (ट्रोम्सो)।
7. सरवनन, वेलायुथम । "वन अधिकार अधिनियम, 2006 की मान्यता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था: पर्यावरण और आदिवासी विकास के बीच संघर्ष।" *साउथ एशिया रिसर्च* 29.3 (2009): 199-221।
8. अग्रवाल, आशीष। "वन अधिकार अधिनियम का कार्यान्वयन, बदलते वन परिदृश्य, और भारत में "आरईडीडी+ की राजनीति।" *जर्नल ऑफ रिसोर्सेज, एनर्जी एंड डेवलपमेंट* 8.2 (2011): 131-148।
9. पामंगकास, काह्यो। "दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन में दृष्टिकोण: क्षेत्र अध्ययन में उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों का विकास।" *सुवान्नभूमि* 7.1 (2015): 59-76।

10. रॉय, अनिरबन। "औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में वन अधिनियमों और नीतियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन, 'वन अधिकार अधिनियम-2006' पर जोर देते हुए।" *एशियन जर्नल ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी* 8.9 (2017): 5501-5505।
11. घोष, मनोरंजन, और सोमनाथ घोषाल। "उप- हिमालयी पश्चिम बंगाल में वानिकी और वन संस्कृति का ऐतिहासिक भूगोल, 1757-2015।" *अंतरिक्ष और संस्कृति, भारत* 6.5 (2019): 215-227।
12. सेनगुप्ता, सोहिनी, और मनीष के. झा। "सामाजिक नीति और राज्य-समुदाय संबंध: भारत में वन अधिकारों पर तूफान।" *ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोशल वर्क* 50.8 (2020): 2423-2440।
13. बारा, जोसेफ। "स्कूली शिक्षा 'टूंट' जनजातियाँ: छोटानागपुर में ब्रिटिश औपनिवेशिक मजबूरियाँ और शैक्षिक विकास , 1870-1930।" *भारत में जनजातीय अध्ययन: इतिहास, पुरातत्व और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य* , बी.बी. कुमार द्वारा संपादित, खंड 1, प्रतिभा प्रकाशन , 2020, पृष्ठ 81-111।
14. दास, बापन कुमार, और दिनेश नारायण वर्मा। "झारखंड के संताल परगना में आदिवासी विद्रोह: 19वीं सदी में विदेशी शासन के प्रति आदिवासी प्रतिरोध का एक अध्ययन।" 2021.
15. कुमार, राकेश। "झारखंड, भारत के जनजातीय लोगों में समाज और संस्कृति परिवर्तन।" *पर्यटन विरासत और संस्कृति अध्ययन* 2.1 (2022): 73-77।